साप्ताहिक
Live not just breaTHE

MPHIN/2015/63220
MP/IDC1528/16-18

दि कार्मिक पोस्ट

वर्ष : 6, अंक : 26 (प्रति बुधवार), इन्दौर, 17 फरवरी से 23 फरवरी 2021 पेज : 8 कीमत : 3 रुपये

दुनिया भर में 52 फीसदी वेस्ट वाटर का नहीं हो पाता ट्रीटमेंट

नई दिल्ली। यूट्रेक्ट विश्वविद्यालय और संयुक्त राष्ट्र विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों द्वारा किए गए एक नए अध्ययन के अनुसार, दुनिया भर में लगभग आधे अपशिष्ट जल (वेस्ट वाटर) का ट्रीटमेंट किया जाता है। मनुष्य और कारखाने प्रति दिन भारी मात्रा में अपशिष्ट जल का उत्पादन करते हैं। यदि इसका ठीक से एकत्र और उपचार नहीं किया गया, तो अपशिष्ट जल से मानव स्वास्थ्य को गंभीर खतरा हो सकता है और यह पर्यावरण को प्रदूषित कर सकता है। अध्ययनकर्ताओं ने अपशिष्ट जल उत्पादन, संग्रह, उपचार और पुन- उपयोग की मात्रा का अनुमान लगाने के लिए राष्ट्रीय आंकड़ों का उपयोग किया है।

यूट्रेक्ट विश्वविद्यालय के अध्ययनकर्ता एडवर्ड जोन्स ने कहा कि विश्व स्तर पर हर साल लगभग 35,900 करोड़ क्यूबिक मीटर अपशिष्ट जल का उत्पादन होता है, जोकि 14.4 करोड़ ओलंपिक आकार के स्विमिंग पूल के बराबर है। वर्तमान में इस अपशिष्ट जल का लगभग 48 फीसदी का उपचार किया जाता है। जो कि 80 फीसदी के सौचे गए आंकड़ों की तुलना में बहुत कम है। हालांकि परिणाम पिछले काम की तुलना में अधिक आशावादी हैं, अध्ययनकर्ता जोर देते हैं कि कई चुनौतियां अभी भी मौजूद हैं। जोन्स ने कहा हम देखते हैं कि विशेष रूप से विकासशील देशों में, जहां भविष्य में अधिकांश जनसंख्या वृद्धि की संभावना है, वहां की उपचार दर पिछड़ रही है। इन देशों में, विशेष रूप से, अपशिष्ट जल का उत्पादन तेजी से बढ़ने के आसार हैं, जो संग्रह बुनियादी ढांचे और उपचार सुविधाओं के वर्तमान विकास की तुलना में अधिक है। यह मानव स्वास्थ्य और पर्यावरण दोनों के लिए गंभीर खतरा पैदा करता है। विकासशील देशों में, अपशिष्ट जल को इकट्ठा करने और उसके उपचार के लिए बुनियादी ढांचे के निर्माण के लिए वित्तीय संसाधनों की कमी है, जो मुख्य समस्याओं में से एक है। यह विशेष रूप से उन्नत उपचार तकनीकों का मामला है, जो महंगा हो सकता है। हालांकि, अध्ययनकर्ता अपशिष्ट जल के पुन- उपयोग के लिए संभावित अवसरों को उजागर करते हैं, जो कि अपशिष्ट जल उपचार प्रथाओं में सुधार करने में मदद कर सकते हैं। यह शोध जर्नल अर्थ सिस्टम साइंस डेटा में प्रकाशित हुआ है। जोन्स कहते हैं कि अपशिष्ट जल का सबसे स्पष्ट पुन- उपयोग ताजे पानी की आपूर्ति को बढ़ाने के लिए है। अपशिष्ट जल का पुन- उपयोग पहले से ही कई सूखा प्रभावित देशों में सिंचाई के पानी का एक महत्वपूर्ण स्रोत है, विशेष रूप से मध्य पूर्व और उत्तरी अफ्रीका में। हालांकि, वर्तमान में दुनिया भर में केवल 11 फीसदी अपशिष्ट जल का पुन- उपयोग किया जा रहा है, जिसे बढ़ाया जा सकता है। जोन्स कहते हैं केवल ताजे पानी में वृद्धि करना एकमात्र विकल्प नहीं है। अपशिष्ट जल में पोषक तत्वों और ऊर्जा के स्रोत के रूप में भी बड़ी क्षमता होती है। अपशिष्ट को एक संसाधन के रूप में मान्यता दी जा सकती है। हालांकि, अध्ययनकर्ता अपशिष्ट जल उपचार संयंत्रों की उचित निगरानी के महत्व पर जोर देते हैं, साथ ही मजबूत कानून और नियमों के साथ, यह भी सुनिश्चित करना कि अपशिष्ट जल का पुन- उपयोग सुरक्षित हो। अध्ययनकर्ताओं ने अपशिष्ट जल के पुन- उपयोग की दिशा में एक अन्य महत्वपूर्ण अवरोध के रूप में सार्वजनिक स्वीकृति को भी स्वीकार किया है। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड की 2015 की रिपोर्ट के अनुसार भारत में लगभग 37 फीसदी अपशिष्ट जल या 22,963 मिलियन लीटर प्रति दिन (एमएलडी), उपचारित करने की क्षमता है। भारत में रोज लगभग 61,754 एमएलडी सीवेज उत्पन्न होता है। (साभार)

नर्मदा में प्रदूषित पानी का मिलना जारी

जबलपुर । घाट तिलवारा और ग्वारीघाट में नालों का पानी रोकने की कोई व्यवस्था नहीं की गई। पिछले 15 दिनों से लगातार शहर के संत और जनप्रतिनिधि माध्यम से नालों को बंद करने की अपील करते रहे लेकिन हुआ वही, प्रशासन जीता और जनता हारी। क्योंकि जो काम पिछले 15 दिन में नहीं हो पाया वो दो दिन में होना संभव नहीं है। सिर्फ खारीघाट के नालों को छोड़ दिया जाए तो अन्य सभी नाले-नालियों का पानी नर्मदा के घाटों पर ही जा रहा है। नर्मदा नदी में नालों का पानी जाने से रोकने की व्यवस्था की जानी चाहिए। भेड़ाघाट क्षेत्र में कई नाले अमृत जल को दूषित कर रहे हैं। इसका असर पशु-पक्षियों पर भी पड़ रहा है। नालों का पानी रोकने के लिए जनभागीदारी होना जरूरी है। अभी भी लोग घाटों पर कपड़े धो रहे हैं। नालों को बंद करने के लिए प्रशासन को पुख्ता इंतजाम करना पड़ेगा। नाले तो पहले ढलान पर ही जाएंगे लेकिन चिंताजनक बात यह है कि प्रदूषण की मात्रा बढ़ती जा रही है। नालों का पानी रोकने के लिए प्रशासन के साथ धार्मिक, सामाजिक संस्थाओं को आगे आना चाहिए। कोरोनाकाल में जब लाकडाउन हुआ तो लोगों को घाटों पर जाने का प्रतिबंध लग गया। इस दौरान नर्मदा का निर्मल रूप देखने मिला। खास बात यह है कि तल के कंकड़ भी स्पष्ट दिखने लगे थे। इसके बाद जैसे ही लाकडाउन खुला तो नर्मदा में फिर प्रदूषण दिखने लगा। तब से अभी तक अधिकारियों को प्लान बनाने का समय नहीं मिला।

धूम्रपान से हर साल वायुमंडल में मिलते हैं 13.5 करोड़ किलोग्राम प्रदूषित कण

नई दिल्ली। माल्टा विश्वविद्यालय के रसायन विज्ञान विभाग के डॉ. नोएल एक्विलीना और प्रोफेसर इमैनुएल सिनाग्रा के द्वारा एक अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन इस बात की पुष्टि करता है कि कई जहरीले घटकों के अलावा एयरबोर्न पार्टिकुलेट मैटर (पीएम) या कण प्रदूषण भी तंबाकू के धुएं से भी प्रदूषित होते हैं।

इस अध्ययन ने शोधकर्ताओं के 30 वर्षों के इंतजार को खत्म किया। 2016 में दुनिया भर में लगभग 6 ट्रिलियन सिगरेटों का उपयोग किया गया था। दुनिया भर में जाने-अंजाने दूसरों द्वारा किया जाने वाला धूम्रपान (सेकेंड हैंड स्मोक (एसएचएस)) अकेले सिगरेट पीने से, लगभग 2.2 करोड़ किलोग्राम निकोटीन और लगभग 13.5 करोड़ किलोग्राम पार्टिकुलेट मैटर (पीएम) हर साल वायुमंडल में मिलता है। सेकेंड हैंड स्मोक (एसएचएस) पार्टिकुलेट मैटर (पीएम) के उपयोग का पर्यावरणीय परिस्थितियों के तहत और कम सांद्रता में इसका पता लगाया जा सकता है। इस उद्देश्य के लिए, ऐतिहासिक रूप से कई अध्ययनों ने परिवेशी सेकेंड हैंड स्मोक के हवा तक पहुंच को दिखाने के लिए एक सबूत (मार्कर) खोजने की कोशिश की। जो 1991 से मुख्य सबूत के रूप में निकोटीन था। बाद के अध्ययनों ने पुष्टि की है कि निकोटीन विशेष रूप से गैसीय अवस्था में भी पाया जाता है जबकि सेकेंड हैंड स्मोक के कणों की इस अवस्था के संपर्क को अबतक कम करके आंका गया था। अन्य पदार्थों से अलग-अलग समय पर अन्य सेकेंड हैंड स्मोक घटकों के साथ जुड़ता है। इसकी अलग-अलग सतहों पर सोखने की दर अधिक होती है और जब धूम्रपान अधिक नहीं होता है तो यह सतहों पर से आसानी से कम हो जाता है। इसका मतलब था कि निकोटीन पार्टिकुलेट मैटर (पीएम) में सेकेंड हैंड स्मोक (एसएचएस) के सबूत के रूप में पर्याप्त नहीं था। पिछले 3 दशकों में, इसके 16 अलग-अलग निशानों/मार्करों को जानने की कोशिश की गई और इनका परीक्षण किया गया लेकिन सभी आवश्यक मार्कर विशेषताओं को पूरा करने के तरीके में विफल रहे।

2013 में डिवीजन ऑफ कार्डियोलॉजी, क्लिनिकल फार्माकोलॉजी प्रोग्राम ने पाया कि तंबाकू के पत्तों और तंबाकू के धुएं में ट्राईपीरिडीन एल्कलॉइड पाया जाता है। इसकी स्थिरता कम होने के कारण, यह मुख्य रूप से पार्टिकुलेट मैटर में जो कि सेकेंड हैंड स्मोक (एसएचएस) और तंबाकू के धुएं में इसका पता लगाया जा सकता है। यह माना गया था कि निकोटेलिन को एसएचएस के लिए किए गए पहले परीक्षण की तुलना में वातावरण में इन कणों के अधिक स्थिर होने की आशंका है। यह अध्ययन एनवायर्नमेंटल इंटरनेशनल नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। परीक्षण के नमूने इन कणों के वायुमंडल में स्थिर रहने के सबसे महत्वपूर्ण तथ्य को उजागर करते हैं, इसलिए इनकी गणना की जा सकती है। विज्ञान संकाय द्वारा इसे 2018 में माल्टा विश्वविद्यालय, सुब्रीडा परिसर में मोबाइल एयर क्वालिटी लेबोरेटरी उपकरण का उपयोग करके एकत्र किया गया है। वायुमंडलीय परिस्थितियों को सत्यापित करने के लिए स्थानीय मौसम संबंधी आंकड़ों के साथ इसको जोड़ा गया। वास्तविक समय में निगरानी किए गए एक समूह का उपयोग किया गया था, जिसके नमूना लेने के दौरान यह फिल्टर पर निकोटेलिन की स्थिरता को प्रभावित कर सकता है।

अध्ययन से पता चला है कि- सेकेंड हैंड स्मोक (एसएचएस) में निकोटेलीन को तंबाकू के धुएं से बनने वाले पार्टिकुलेट मैटर पाए गए हैं यह कम सांद्रता और जनसंख्या घनत्व और तंबाकू के उपयोग के अनुसार अपनी उपस्थिति दिखाता है एयरबोर्न पार्टिकुलेट मैटर में तंबाकू के धुएं के कण का औसत भार 0.06 फीसदी है। 2010 में, वैश्विक मृत्यु दर के लगभग 1 फीसदी के लिए सेकेंड हैंड स्मोक (एसएचएस) के खतरे को जिम्मेदार ठहराया गया था। 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चों में श्वसन संबंधी संक्रमण, वयस्कों में इस्केमिक हृदय रोग और वयस्कों और बच्चों में अस्थमा से संकेत मिलता है कि एसएचएस के संपर्क से कई तरह के खतरे हो सकते हैं। हालांकि एयरबोर्न पीएम आम तौर पर कई प्रदूषकों से भरा होता है जो विभिन्न स्रोतों के कारण उत्परिवर्तन, जीनोटॉक्सिक और कार्सिनोजेनिक (कैंसर फैलाने वाले) हो सकते हैं, अब यह पुष्टि की गई है कि पीएम का एक छोटा भाग विशेष रूप से तंबाकू के धुएं से आता है, इसलिए हवा तंबाकू के धुएं से भी दूषित होती है। यद्यपि इसका भार तत्काल खतरे के रूप में बहुत कम प्रतीत होता है, इसने वर्तमान में धूम्रपान न किए जाने वाले वातावरण में भी पार्टिकुलेट मैटर में सांस लेने से सेकेंड हैंड स्मोक/ थर्डहैंड स्मोक (टीएचएस) के संभावित पुराने खतरे पर एक नया मानक स्थापित किया है। इस अध्ययन का महत्व यह है कि इसने पार्टिकुलेट मैटर (पीएम) में मौजूद शक्तिशाली तम्बाकू से भरे विशिष्ट कार्सिनोजेन (कैंसर फैलाने वाले) पर शोध करने के लिए एक प्रवेश द्वार खोला है। यह फेफड़े के कैंसर को लेकर एक महत्वपूर्ण मार्ग दिखाता हैं। थर्डहैंड स्मोक (टीएचएस) घटक हैं जो तंबाकू के धुएं और इसके स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों से जुड़े मामलों को सामने लाता है। तम्बाकू के धुएं के संपर्क पर आने के ध्यान देने की आवश्यकता है, जिसमें त्वचा से, हाथ से मुंह में जाने और सहायक कणों को निगलना इनमें सांस लेना शामिल हैं जो सतहों से पुन-उत्सर्जन के बाद बनते हैं।

अंटार्कटिका के नीचे मिले अनोखे जीव, वैज्ञानिकों को नहीं इनकी जानकारी

अंटार्कटिका अंटार्कटिका से एक बड़ी खबर सामने आई है। यहां हिमखंडों के नीचे अनोखे जीव मिले है। इन विचित्र प्रतार के जीवों की खोज करीब एक किलोमीटर की गहराई में हुई है। इन्हें खोजने के लिए वैज्ञानिकों ने अंटार्कटिका में 900 मीटर की ड्रिलिंग की। जब उन्होंने छेद में कैमरा डाला तो अंदर का नजारा देख चौंक गए। पता चला कि ये जीव बिल्कुल अंधेरे में और माइनस डिग्री में रहते हैं। इन जीवों की खोज की रिपोर्ट फ्रंटियर्स इन मरीन साइंस नामक जर्नल में प्रकाशित हुई है। रिपोर्ट में बताया गया है कि अंटार्कटिका के दक्षिण-पूर्वी वेड्डेल सागर में फिलच्नर-रॉने आइस सेल्फ के नीचे जीव मिले हैं। ये खुले समुद्र से 260 किमी दूर है। इससे पहले इस तरह के जीवों की खोज नहीं हुई है। रिपोर्ट में कहा गया है कि ये जीव बर्फीले पत्थरों से चिपके रहते है। ये किस तरह के जीव से इसका अभी पता नहीं चल पाया है। वैज्ञानिकों का भी कहना है कि यह ऐसे जीव जिसके बारे में दुनिया को नहीं पता। नए खोजे गए जीव फिलच्नर-रॉने आइस सेल्फ में पाए गए हैं। यहां का तापमान माइनस 2.2 डिग्री सेल्सियस है। इस तरह की परिस्थि में रहने वाले जीव इसे पहले कभी खोजे नहीं गए। इन जीवों को खोजने वाले प्रमुख रिसर्चस डॉ. हव ग्रिफिथ ने बताया कि ऐसे जीव कभी नहीं देखे गए। यह बदलती दुनिया में खुद को बदल चुके हैं। उन्होंने कहा कि हमारे मन में कई तरह के सवाल है। आखिर ये जीव खाते क्या है? ये यहां तक आए कैसे? ये जीव कितने समय से हैं? क्या ये कोई नई प्रजाति के जीव हैं?। डॉ. हव ने कहा कि दक्षिणी सागर में तैरने वाले समुद्री हिमखंडों के नीचे काफी खोज बाकी है। अब तक मनुष्यों ने सिर्फ टेनिक कोर्ट के क्षेत्रफल जितने इलाको में खोजबीन की है। जबकि हिमखंड अंटार्कटिका महाद्वीप का 15 लाख वर्ग किमी तक है। डॉ. ग्रिफिथ ने आगे बताया कि हमारे पास जीवों को सही सलामत ऊपर लाने के लिए अत्याधुनिक उपकरण हैं। इनका अध्ययन करने के बाद ही सभी सवालों के जवाब मिल पाएंगे।

दुनिया भर में 87 लाख मौतों के लिए जिम्मेवार है जीवाश्म ईंधन से होने वाला प्रदूषण...

मुंबई। भारत में भी जीवाश्म ईंधन से होने वाले उत्सर्जन से 2012 में करीब 24.6 लाख लोगों की जान गई थी7 वहीं यदि चीन को देखें तो वहां 39.1 लाख लोगों को इसके चलते अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था। गौरतलब है कि यह शोध 2012 से 2018 के आंकड़ों पर आधारित है। यह शोध बर्मिंघम, लीसेस्टर विश्वविद्यालय और यूनिवर्सिटी कॉलेज लंदन के सहयोग से हार्वर्ड यूनिवर्सिटी द्वारा किया गया है जोकि जर्नल एनवायर्नमेंटल रिसर्च में प्रकाशित हुआ है। इस शोध में जीवाश्म ईंधन से मरने वालों के जो आंकड़ें सामने आए हैं, वो पिछले शोधों की तुलना में काफी ज्यादा हैं। इससे पहले जर्नल लैंसेट में ग्लोबल बर्डन ऑफ डिजीज पर छपे शोध में जीवाश्म ईंधन के कारण हर वर्ष मरने वालों की संख्या को 42 लाख आंका था।

शोध के अनुसार दुनिया भर में जीवाश्म ईंधन के उपयोग से होते वायु प्रदूषण का सबसे ज्यादा शिकार चीन, भारत, यूरोप और उत्तर-पूर्वी अमेरिका के लोग बन रहे हैं। इससे पहले किए गए शोध, पीएम 2.5 की वैश्विक औसत मात्रा का अनुमान लगाने के लिए उपग्रह से प्राप्त आंकड़ों और सतह के अवलोकन पर निर्भर थे। लेकिन समस्या यह है कि उपग्रह और सतह के अवलोकन से इस बात का पता नहीं लगता की वायु प्रदूषण के लिए कौन से प्रदूषक मुख्य रूप से जिम्मेवार है। इनके जरिए जीवाश्म ईंधन से उत्सर्जित होने वाले कणों और धूल, जंगल की आग, धुंए और अन्य स्त्रोतों से होने वाले उत्सर्जन में अंतर नहीं कर सकते। शोध से जुड़ी शोधकर्ता लॉरिटा जे मिकले के अनुसार +उपग्रह से प्राप्त आंकड़ों में आप केवल पहेली का एक हिस्सा देख पाते हैं। इन आंकड़ों में यह नहीं पता चलता कि किस तरह के कण हैं। जिसकी वजह से आंकड़ों में गैप बना रहता है।+ इस समस्या से बचने के लिए शोधकर्ताओं ने जिओस-कैम मॉडल का प्रयोग किया है। इसकी मदद से यह पता लगाया जा सकता है कि किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोग किस तरह के प्रदूषकों में सांस ले रहे हैं। शोधकर्ताओं के अनुसार यदि चीन अपने जीवाश्म ईंधन से होने वाले उत्सर्जन को आधा कर दे तो इससे दुनिया भर में करीब 24 लाख लोगों की जान बचाई जा सकती है, जिनमें से 15 लाख तो खुद चीन के नागरिक होंगे। हाल ही में अंतर्राष्ट्रीय स्वयंसेवी संगठन ओपन एक्यू द्वारा जारी रिपोर्ट से पता चला है कि लाहौर, दिल्ली और ढाका में सबसे ज्यादा वायु प्रदूषण है। उनके द्वारा जारी आंकड़ों के अनुसार लाहौर में पीएम 2.5 का वार्षिक औसत 123.9 था, जबकि दिल्ली में 102 और ढाका में 86.5 रिकॉर्ड किया गया था। दुनिया की 90 फीसदी आबादी पहले ही जहरीली हवा में सांस ले रही है, जबकि उनमें से केवल आधे यह जानते है कि जिस हवा में वो सांस ले रहे हैं वो कितनी जहरीली है।

वायु प्रदूषण का खतरा कितना बड़ा है इस बात का अंदाजा आप इसी तथ्य से लगा सकते हैं कि दुनिया भर में 90 फीसदी लोग ऐसी हवा में सांस ले रहे हैं जो विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार इंसान के लिए हानिकारक है। यह औसतन हर व्यक्ति की आयु में से तीन साल छीन रहा है। शोध के अनुसार वायु प्रदूषण सबसे ज्यादा बच्चों और बुजुर्ग व्यक्तियों पर असर डाल रहा है। स्वास्थ्य सुविधाओं के आभाव में इसके सबसे ज्यादा शिकार गरीब देशों के लोग बन रहे हैं। स्टेट ऑफ ग्लोबल एयर 2020 के अनुसार वायु प्रदूषण के चलते 2019 में भारत के 116,000 से भी ज्यादा नवजातों की मौत हुई थी, जबकि इसके कारण 16.7 लाख लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था। इस शोध से जुड़े शोधकर्ता जोएल श्वार्ट्ज के अनुसार अक्सर कार्बन डाइऑक्साइड और जलवायु परिवर्तन के सन्दर्भ में जीवाश्म ईंधन के खतरों के बारे में बात करते हैं। ऐसे में हम इसके स्वास्थ्य पर पड़ रहे प्रभाव को अनदेखा कर देते हैं। ऐसे में जब हम जानते हैं कि जीवाश्म ईंधन से होने वाले उत्सर्जन में कमी करके लाखों लोगों की जान बचाई जा सकती है तो वह नीतिनिर्माताें को ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में कटौती करने के लिए प्रेरित करेगा। ऐसे में रिन्यूएबल एनर्जी के उपयोग को बल मिलेगा।

गर्भावस्था में भारी धातुओं का संपर्क बिगाड़ सकता है मां और बच्चे का स्वास्थ्य

नई दिल्ली। गर्भावस्था के दौरान यदि महिलाएं हैवी मेटल्स जैसे निकल, आर्सेनिक, कोबाल्ट और सीसा के संपर्क में आती हैं तो वो उनके और होने वाले बच्चे के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो सकता है। रटगर्स यूनिवर्सिटी द्वारा किए इस शोध के अनुसार इन धातुओं के संपर्क में आने से महिलाओं के हार्मोन में बाधा आ जाती है, जो स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचा सकती है। यह शोध एनवायरनमेंट इंटरनेशनल जर्नल में प्रकाशित हुआ है।

शोध से पता चला है कि गर्भावस्था में इन मेटल्स के संपर्क में आने से बच्चे के जन्म के समय होने वाली समस्याएं जैसे समय से पहले जन्म और जन्म के समय बच्चे का कम वजन हो सकती हैं। इसके साथ ही महिलाओं में प्रीक्लैम्प्सिया (बच्चे के जन्मे के समय उच्च रक्तचाप) जैसी समस्याएं हो सकती हैं। हालांकि यह क्यों होता है इस बारे में बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध है। इस नए शोध से पता चला है कि कुछ धातुएं महिलाओं के शरीर में अंतःस्रावी तंत्र (एंडोक्राइन सिस्टम) को बाधित कर सकती हैं। यह तंत्र हमारे शरीर में हार्मोन को नियंत्रित करता है। इस तंत्र में आने वाली बाधा बाद में बच्चों के स्वास्थ्य और उनमें बीमारी के जोखिम को और बढ़ा सकती हैं। इस शोध की प्रमुख शोधकर्ता और रटगर्स में सहायक प्रोफेसर जोरीमार रिवेरा-नुनेज के अनुसार गर्भाधान से प्रसव तक महिलाओं के शरीर में एक नाजुक हार्मोनल संतुलन बना रहता है। यदि इस संतुलन में गड़बड़ी आती है तो वो मां और भ्रूण दोनों को नुकसान पहुंचा सकती है। यह शोध 815 महिलाओं पर किया गया है। जिसमें गर्भवती महिलाओं और उनके बच्चों पर पर्यावरण प्रदूषण के असर को मापा गया है। इसमें पता चला है कि गर्भावस्था के दौरान मेटल प्रसव पूर्व हार्मोन की मात्रा पर असर डालते हैं। जिससे शरीर में अंतःस्रावी तंत्र बाधित हो जाता है। यह व्यवधान इस बात पर निर्भर करता है कि गर्भावस्था के दौरान महिला कब मेटल के संपर्क में आई थी। इनके चलते ने केवल जन्म के समय बच्चे और मां का स्वास्थ्य प्रभावित होता है, साथ ही यह कई अन्य तरीकों से भी असर डालता है। जहां गर्भावस्था के दौरान सेक्स-स्टेरॉयड हार्मोन में बदलाव भ्रूण के विकास पर असर डालता है, जिससे जन्म के समय बच्चे का वजन कम रह जाता है। जन्म के समय बच्चे का शारीरिक विकास भविष्य में बच्चे के विकास पर असर डालता है और उनमें मोटापा, स्तन कैंसर और आगे चलकर होने वाली बीमारियों का कारण बनता है। रिवेरा-नुनेज ने जानकारी दी है कि प्यूर्टो रिको में 18 सक्रिय साइट हैं जो वहां पर्यावरण प्रदूषण कर रही हैं। जिससे वहां रहने वाले लोग विषाक्त धातुओं के संपर्क में आ सकते हैं। उनके अनुसार अमेरिका की तुलना में प्यूर्टो रिको में गर्भवती महिलाओं के इन धातुओं के संपर्क में आने का खतरा कहीं ज्यादा है। उनके अनुसार यहां बच्चे के समय से पहले जन्म का जोखिम अमेरिका से करीब 12 फीसदी ज्यादा है। हालांकि यह शोध प्यूर्टो रिको में किया गया है लेकिन यह दुनिया भर में पर्यावरण प्रदूषण और उसका गर्भवती महिलाओं और उनके होने वाले बच्चे के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले असर को इंगित करता है। भारत में आज शायद ही कोई भोपाल गैस त्रासदी को भूला होगा, जिससे होने वाला प्रदूषण आज भी वहां जन्म लेने वाले बच्चों पर असर डाल रहा है।

उत्तर प्रदेश और बिहार के पांच वर्ष से कम उम्र के मासूम बच्चों पर वायु प्रदूषण का खतरा सबसे अधिक

लखनऊ। उत्तर प्रदेश और बिहार, महाराष्ट्र, राजस्थान जैसे बड़े और प्रति व्यक्ति कम आय वाले राज्य खतरनाक स्तर के पार्टिकुलेट मैटर वाले वायु प्रदूषण की चपेट में हैं। यह राज्य वायु प्रदूषण के कारण होने वाली समयपूर्व मौतों और रुग्णता के कारण जबरदस्त आर्थिक नुकसान भी उठा रहे हैं। यह बात इस तरफ भी इशारा कर रही है कि इन राज्यों में वायु प्रदूषण की बलि सबसे ज्यादा गर्भ में पल रहे व नवजात बच्चों को ही चढ़ना पड़ रहा है।

द लैंसेट की ताजा रिपोर्ट में ग्लोबल बर्डन डिजीज 2019 के मुताबिक 2019 में 17 लाख मौतों का कारण वायु प्रदूषण है जबकि 2017 जीबीडी रिपोर्ट में वायु प्रदूषण जनित मौतों का आंकड़ा 12.4 लाख ही था। यह आंकड़ा स्पष्ट तौर पर यह भी बताता है कि खासतौर से ऐसे राज्य जो गरीब आय वाले हैं और जहां बच्चों व माताओं के लिए कुपोषण की बड़ी लड़ाई है वहां वायु प्रदूषण ज्यादा हमलावर है। लैंसेट प्लेटनरी हेल्थ रिपोर्ट के मुताबिक उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, पश्चिम बंगाल और राजस्थान पांच राज्य हैं जहां अकेले 50 फीसदी मौते हुई हैं। यही पांचो राज्य 2017 की रिपोर्ट में भी शीर्ष मौत वाले राज्यों की सूची में शामिल थे। 2019 की रिपोर्ट के मुताबिक सबसे ज्यादा वायु प्रदूषण जनित मौतें 349, 000 उत्तर प्रदेश में हुई है। हालांकि अभी यह स्पष्ट कर पाना मुश्किल है कि इस रिपोर्ट में पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चों की संख्या वास्तविकता में कितनी है। लेकिन रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि बड़ी संख्या पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चों की है। वायु प्रदूषण जनित रोगों में निचले फेफड़ों के संक्रमण सबसे ज्यादा बच्चों की मौत का कारण बनते हैं। पुरानी जीबीडी रिपोर्ट के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है। यदि 1990 से लेकर 2017 तक दो दशक में पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चों की प्रमुख बीमारियों से होने वाले मौतों के आंकड़ों का विश्लेषण करें तो यह साफ पता चलता है कि जिस तरह से डायरिया, खसरा जैसे रोगों पर नियंत्रण पाया गया है उस गति में निचले फेफड़ों के संक्रमण से मौतों पर नियंत्रण की कोशिश नहीं हुई है। मसलन 1990 में पांच वर्ष से कम उम्र वाले बच्चों की डायरिया से 16.73 फीसदी (4.69 लाख मौतें) हुई थीं जबकि 2017 में नियंत्रण से यह 9.91 फीसदी (एक लाख) पहुंच गई। वहीं, निचले फेफड़ों के संक्रमण से 1990 में 20.20 फीसदी (5.66 लाख मौतें) हुई थी जो कि 2017 में 17.9 फीसदी (1.85 लाख) तक ही पहुंची। यानी करीब तीन दशक में एलआरआई से मौतों की फीसदी में गिरावट बेहद मामूली है। पांच वर्ष से कम उम्र वाले बच्चों की मौत का प्रमुख कारण क्या है? इस सवाल के जवाब में 1990 से 2017 तक के जीबीडी आंकड़ों का विश्लेषण यह बताता है कि पांच वर्ष से कम उम्र वाले बच्चों की मौत का दूसरा सबसे प्रबल कारक निचले फेफड़ों का संक्रमण है। वहीं, निचले फेफड़ों के संक्रमण में वायु प्रदूषण की बड़ी भूमिका है। विभिन्न वैज्ञानिक अध्ययनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि पार्टिकुलेट मैटर 2.5 प्रदूषण के वो कण हैं जो आंखों से दिखाई नहीं देते और इतने महीन होते हैं कि श्वास नली के जरिए निचले फेफड़े तक पहुंच जाते हैं। सिर्फ बच्चों में ही यह प्रदूषण कण इसलिए भी ज्यादा प्रभावी होते हैं क्योंकि बच्चे किसी वयस्क के मुकाबले ज्यादा सांस के दौरान ज्यादा प्रदूषण कण भी अपने फेफडों तक पहुंचाते हैं। जीबीडी के ही आंकड़ों के मुताबिक पांच वर्ष से कम उम्र आयु वर्ग में अब भी अपरिपक्वता, समयपूर्व जन्म, कम वजन का होना, स्वास्थ्य सुविधाओं का न होना जैसे नवजात विकारों के कारण दम तोड़ देते हैं। 28 दिन की उम्र से नीचे यानी नवजात बच्चों की मृत्यु में भी यह कारक प्रमुख हैं। लेकिन जो इस स्टेज को पार कर जाते हैं और पांच वर्ष से छोटे हैं उनमें निचले फेफड़े का संक्रमण होने का जोखिम सबसे ज्यादा है और इसी आयु वर्ग के बच्चे निचले फेफड़े के संक्रमण से दम तोड़ रहे हैं। जीबीडी, 2017 के आंकड़ों के मुताबिक देश के हर एक घंटे में पांच वर्ष से कम उम्र वाले 21.17 बच्चे निचले फेफड़े के संक्रमण (एलआरआई) के कारण दम तोड़ रहे हैं। इसमें राजस्थान, उत्तर प्रदेश और बिहार के बच्चे सबसे बड़े भुक्तभोगी हैं। देश में अब तक के उपलब्ध विस्तृत आंकड़ों के मुताबिक 2017 में 5 वर्ष से कम उम्र वाले 1,035,882.01 बच्चों की मौत विभिन्न रोगों और कारकों से हुई। इनमें 17.9 फीसदी यानी 185,428.53 बच्चे निचले फेफड़ों के संक्रमण के कारण असमय ही मृत्यु की आगोश में चले गए।

लचर स्वास्थ्य सेवाएं और निम्न आय वर्ग वाले राज्यों में वायु प्रदूषण के कारण बच्चों की मृत्युदर का आंकड़ा भी सर्वाधिक है। जीबीडी, 2017 के आंकड़ों के मुताबिक वर्ष 2017 में 41.38 फीसदी यानी 428647.98 मौतें इन्हीं कारणों से हुईं। इसके बाद बच्चों की मृत्यु का दूसरा सबसे बड़ा कारण निचले फेफड़े के संक्रमण ही है। वर्ष 2017 में निचले फेफड़ों के संक्रमण के कारण 17.9 फीसदी मौते यानी 185,428.53 बच्चों की मृत्यु हुई है।

निचले फेफड़े के संक्रमण और वायु प्रदूषण के घटक पार्टिकुलेट मैटर 2.5 के बीच एक गहरा रिश्ता भी है। 0 से 5 आयु वर्ग वाले समूह में निचले फेफड़े का संक्रमण जितना प्रभावी है उतना 5 से 14 वर्ष आयु वर्ग वालों पर नहीं है। 2017 में 5 से 14 आयु वर्ग वाले बच्चों में निचले फेफड़ों के संक्रमण से 6 फीसदी बच्चों की मृत्यु हुई। इससे स्पष्ट है कि निचले फेफड़ों का संक्रमण पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चों पर ही ज्यादा प्रभावी है।

वहीं, जीबीडी रिपोर्ट बताती है कि 2019 में 17 लाख मौतों में 58 फीसदी मौतें बाहरी यानी परिवेशी वायु प्रदूषण के कारण हैं जबकि 36 फीसदी मौतें भीतरी यानी घर से होने वाली मौतों के कारण हैं। घर से होने वाले प्रदूषण में सबसे बड़ा कारक प्रदूषित ईंधन से खाने का पकाया जाना है।

पार्टिकुलेट मैटर 2.5 का तय मानकों से कई गुना ज्यादा होना और वायु प्रदूषण जनित मौतों का सीधा कनेक्शन है। यह कई रिपोर्ट बार-बार दोहरा रही हैं। मसलन शीर्ष ऐसे 10 राज्य जहां पीएम 2.5 प्रदूषण ज्यादा रहा है और वहां होने वाली मौतें भी ज्यादा रही हैं।

डब्ल्यूएचओ के मानकों के मुताबिक पीएम 2.5 का सालाना सामान्य सांद्रण 10 माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर से नीचे का है। जबकि राज्यों में 20 गुना ज्यादा पीएम 2.5 प्रदूषण है और वहां मौतें भी सबसे ज्यादा हैं। इसे नीचे सारिणी में देखें।

जैव विविधता के संरक्षण योजनाओं को प्रभावित कर रहा है जलवायु परिवर्तन

मुंबई। अध्ययन में पाया गया कि 51 फीसदी देशों ने उन जगहों में नए संरक्षित क्षेत्रों का निर्माण किया है जहां जलवायु में बदलाव धीमी गति से हो रहा है एक दशक से भी अधिक समय से, दुनिया भर के देशों में, वहां की सरकारों ने जैव विविधता के संरक्षण के लिए अपने संरक्षित क्षेत्रों के नेटवर्क को फैलाने के लिए काफी काम किया है। एक नए अध्ययन के अनुसार, इन संरक्षित क्षेत्रों में जलवायु परिवर्तन से लंबे समय तक पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान में नहीं रखा गया है। राष्ट्रीय उद्यानों जैसे संरक्षित क्षेत्रों का निर्माण और प्रबंधन जैव विविधता संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण है। जलवायु परिवर्तन के रूप में, हालांकि, प्रजातियों को अपने विशिष्ट निवास स्थान की जरूरतों को बनाए रखने के लिए इसे फैलाना होगा। वे प्रजातियां जो 10 साल पहले संरक्षित क्षेत्रों में थीं, वे संरक्षित क्षेत्र के बाहर के क्षेत्र में जा सकती हैं। ताकि वे सहने योग्य तापमान और भोजन की खोज कर सकें, जो उनके जीवित रहने के लिए आवश्यक है। बदलती जलवायु में प्रजातियां कहां पलायन करेंगी इसका अनुमान लगाना मुश्किल है। इसके बजाय, नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर मैथमेटिकल एंड बायोलॉजिकल सिंथेसिस (निबिओस) और यूनिवर्सिटी ऑफ टेनेसी डिपार्टमेंट ऑफ इकोलॉजी एंड इवोल्यूशनरी बायोलॉजी (ईईबी) के अध्ययनकर्ताओं ने जैव विविधता संरक्षण के लिए यह देखने का फैसला किया कि संरक्षित क्षेत्रों के बाहर कितनी जमीन उपलब्ध है जो संभावित रूप से नए संरक्षित क्षेत्रों के रूप में काम कर सकती है।

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक सोनल मेहता केलिए प्रतीक्षा ग्राफिक्स, 127 देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर (म.प्र.) से मुद्रित एवं 209-बी शहनाई रेसीडेंसी-2 कनाड़िया रोड इंदौर (म.प्र.) से प्रकाशित। संपादक: डॉ. सोनल मेहता फोन : 0731-2595008 Mail.sonal12mehta@yahoo.co.in 9755040008